ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

(अन्तिम क़िस्त)

एक ख़ास बात

मेरे नज़दीक इन तमाम हादीसों में रोज़ा इफ्तार का मतलब ये है कि रोज़ा पूरा होने के बाद रोज़ेदार का इफ्तार कराया जाये। लेकिन हमारे मुस्तहब रोज़ों में जो पीछे पड़ा जाता है कि रोज़े पूरा न करके बीच ही में खोल दिया जाये और इसी को बड़े सवाब का काम समझा जाता है और इसके लिये बड़े कोशिशों से काम लिया जाता है। ख़ास तौर से ईदे मबअस (27रजब) के रोज़े में जिसे हज़ारी रोज़ा कहा जाता है, मेरे ख़्याल में ये रोज़ा इफ्तार के इस मतलब से अलग है और इस तरह के रोज़े को पूरा होने दीजिए और फिर इफ्तार के वक़्त इफ्तारी करा दीजिए। ये एक पान की गिलौरी और एक छुहारे और एक इलायची से किसी का ख़ून करने से क्या फ़ायदा?

इस क़िस्म के इफ्तार की ख़्वाहिश जिसे ''सवाले ख़ुदा'' कहा जाता है, मेरे नज़दीक इसकी कोई अहमियत नहीं है। बेशक मोतबर हदीसे इस बारे में आया है कि अपने मोमिन भाई की ख़्वाहिश से रोज़े को खोल डालो तो वह इस रोज़े के पूरा करने से अफ़ज़ल है। मगर मेरे ख़्याल में इसका मतलब ये है कि वह मोमिन भाई वाक़ई आपको कुछ खाना खिलाना चाहता है और इसका दिल चाहता है कि इसके यहाँ खाना खायें, या कोई पसन्द की चीज़ जिसे वह मोहब्बत के साथ आपको खिलाना चाहता है, जो रोज़े की वजह से उसकी ख्वाहिश को पुरा करने से पीछे न हटिए, मगर ये पान की गिलौरी और इलायची और एक छुहारा जिसका मक़सद रोज़े को ख़त्म कराना है, हरगिज खाना खिलाने के मानी में नहीं आता है। हालांकि अगर हम रोज़े से न होते तो शायद ये मिलता भी न। रह गया मोमिन की ख़्वाहिश को पूरा करना तो वह मोमिन खुद कैसा है जो हमारी इस खाहिश और दिली चाहत को पुरा नहीं होने देता कि हम चाहते हैं कि अपने रोज़े को पूरा करें, वह बिला वजह हमें क्यों हमारी खाहिश के ख़ेलाफ़ मजबूर करता है। यहाँ एक बात और कहता चलूँ कि कुछ लोग मुस्तहब रोज़ा और ख़ास तौर से हज़ारी रोज़ा सिर्फ़ इस उम्मीद पर रखते हैं या कम से कम इस यक़ीन के साथ कि कोई न कोई खुलवायेगा और हम खोल डालेगें , ऐसे लोगों के रोज़े का सही होना बहुत मुश्किल है। मेरे नज़दीक इनका रोज़ा तो होता ही नहीं, क्योंकि रोज़ा एक ऐसा काम है जो शुरूआत और ख़ात्मा सुबह होने के कुछ पहले से शुरू होकर सूरज डूबने तक रहे। अगर आपका इरादा है इस पूरी मुद्दत (अवधि/Period) रोज़ा रखने का, तब तो रोज़ा है, और अगर ये नीयत ही नहीं तो रोज़ा नहीं और जब नियत के वक़्त ही ये ख़्याल है कि दो घण्टे का मामला है, फिर तो खुल ही जायगा, तो इसका मतलब यह है कि रोज़े की नीयत पैदा हुई ही नहीं। और अब अगर किसी ने रोज़े को खुलवाया तो वह खुलवाना न हुआ क्यों कि वह पहले से बंधा ही नहीं, या मतलब यह है कि न इससे रोज़ेदार को रोज़े का सवाब मिल सकता है और न खुलवाने वाले को इफ्तार कराने का सवाब। रोज़ा तो उस वक़्त होगा जब अपनी

नीयत व इरादा यही हो कि हम शाम तक रोज़ा रखेगें मगर इत्तेफ़ाक़ से कोई बुलाये और खाना खिलाने को आपके पीछे पड़ जाय तो उस वक़्त उसकी खाहिश पर रोज़ा खोल दे, चूँकि ऐसे में जबकि रोज़े की नीयत हो चुकी थी, इसलिए रोज़े का सवाब भी मिलेगा और फिर मोमिन के बुलावे को कुबूल करने का सवाब मिलेगा।

रोज़े का तरीक़ा व क़ानून

रोज़ा नफ़्स (जी/जान/रूह) को पाक करने के लिए है। इसलिए मासूम इमामों[अ0] ने ज़ोर दिया है कि रोज़े की हालत में इन्सान अपनी ज़बान व दिल, निगाह और जिस्म के हर हिस्से पर क़ाबू (Control) रखे और अपनी ज़िन्दगी जीने के तरीक़े और सामाजिक रहन सहन के क़ायदे में ऐसी पाबन्दी करे कि उसका रोज़ा अपनी रूहानी हैसियत का पूरी तरह आइना साबित हो सके। इसी से इमाम जाफ़र सादिक[अ0] ने फरमाया है ''जब तुम रोज़ा रखो तो तुम्हारे कान, आंख और जिस्म की खाल हर चीज़ रोज़ेदार हो''। मतलब ये है कि कान उन आवाज़ों से अलग रहे जिनका कान लगा कर सुनना शरीयत ने हराम किया है। निगाह उन चीज़ों को देखने से दूर रहे जिनको देखना मना किया गया है। जिस्म की खाल ऐसी चीजें छूने से दूर रहे जिनका छूना नाजायज़ है। इसी तरह और जिस्म के दूसरे हिस्से बन्धनों और सीमाओं से बन्धे रहें। आख़िर में आपने फ़रमाया '' यानी तुम्हारे रोज़े का दिन तुम्हारे बेरोज़े के दिन जैसा न हो, मतलब ये है कि तुम्हारी ज़िन्दगी के हर हिस्से पर रोज़े का असर उजागर होना चाहिये।

इमाम मोहम्मद बाक़िर[अ0] की रवायत है कि जनाब रेसालत मआब[स0] ने जाबिर बिन अब्दुल्लाह अन्सारी से मुख़ातिब होकर फ़रमाया'' ये रमज़ान का महिना है जो भी इसमें दिन को रोज़ा रखे और रात को नमाज़ें पढ़े और खुले व छुपे बदन के सारे हिस्सों को परहेज़गारी और पारसाई (तक़वा संयम ने की) से जुड़ा रखे तो इस महीने से बाहर निकलने की तरह वह गुनाहों से भी बाहर (दूर) हो जायेगा।''

जाबिर ने निवेदन किया ''ये इरशाद (सूक्ति) कितना उमदा (अच्छा) है।

हज़रत ने फ़रमाया ''ऐ जाबिर ये शर्ते भी तो कितनी कड़ी हैं।''

इमाम जाफ़र सादिक़ अ0 ने फ़रमाया '' रोज़े का असल मक़सद सिर्फ़ खाने पीने को छोड़ना नहीं है।''

''जब रोज़ा रखो तो अपनी ज़बानों को रोके रखो और निगाहों को अलग रखो (यानि बुरी चीज़ों को देखने से दूर रखो) और आपस में झगड़ा न करो, और आपस में एक दूसरे से ईर्ष्या, (ये आरजू कि जो चीज़ दूसरे के पास है मुझे भी मिल जाए) व हसद (जलन) न करो।

जनाब रेसालत माआब[स0] ने तो बड़े बलीग़ (कहने का उमदा दिल छूता तरीक़ा/Eloquent) अन्दाज़ से इस बात को बताया है कि ''रोज़ा कुबूल होने के लेहाज़ से इस सूरत में बेमानी हो जाता है कि जब काम पर देखरेख न बाक़ी रहे और इन्सान रोज़े की हालत का सम्मान एहतराम अपने अ़मल से न करें। हज़रत स0 ने एक औरत के बारे में सुना, मुमकिन है वह औरत आपकी बीबियों में से कोई भी हो, वह रोज़े की हालत में अपनी /कनीज़ दासी को गालियाँ दे रही थी। हज़रत ने खाना मंगवाकर फ़रमाया कि ये खाना खाओ, उस ने कहा मैं तो रोज़े से हूँ। आपने कहा : तुम कैसे रोज़े से हो कि अपनी कनीज़ को गालियाँ देती हो। याद रखो कि रोज़ा सिर्फ़ खाने–पीने को छोड़ने का नाम नहीं है।

इमाम जाफ़रे सादिक[अ0] ने फरमायाः ''जब रोज़ा रखो तो चाहिये कि कान और आंख हराम और बुरी बातों से बचे रहें और किसी से झगड़ा न करो और नौकर चाकर को तकलीफ़ न पहुँचाओ और चाहिये कि रोज़ेदार की शान तुम पर उजागर हो और रोज़े के दिन को अपने बेरोज़े के दिन के बराबर न रखो। नौकर चाकर के साथ सख़्ती न

करने का हुक्म, इसके अलावा भी दूसरी रवायत में इन लफ्ज़ो में दिया गया है '' अपने नौकर के साथ नर्मी करो।''

यह सबक़ दिया गया है जिसके बजाए कुछ रोज़ेदारों का यह तरीक़ा बन गया है कि वह रोज़े की हालत में ''मीरे ग़ज़ब'' (गुस्सैल) बने रहते है और बात बात में नौकर की जान को आ जाते हैं जैसे वह इसी को अपने रोज़े का इज़्हार समझते हैं कि इन्हे हर बात पर गुस्सा आये, हालांकि रोज़े में तो ये हुक्म दिया गया है कि अगर गुस्से की बात हो भी तो टाल दी जाये। यहाँ तक कहा गया है कि अगर तुम्हें कोई गालियाँ भी दे तो तब भी अपने रोज़े की ख़ातिर उसे जवाब न दो।

दूसरी बात ये है कि जिसमें आम दिनों के अलावा रोज़े की हालत में कुछ लोगों के यहॉ कुछ बातें और बढ़ जाती हैं, जैसे दूसरों की बुराई, और उनकी कमियाँ का बयान करना, हमारा वक़्त ही नहीं कटता जब तक कि दूसरों की बुराई और उनके खोट का बयान न हो, और हमारा वक़्त ही नहीं कटता जब तक कि दूसरों की मीन मेख न निकालें और उनकी बुराइयों का ज़िक्र न हो। इसको पिछली हदीसों में ख़ास तौर पर मना किया गया है।

बेशक रोज़े की रस्म/रीति से (Formally) सही होने के लिये उन (चीज़ों का) को छोड़ देना भी जैसे खाना पीना वगैरह काफ़ी है। इस लेहाज़ से कि बाद में इस रोज़े की क़ज़ा की ज़रूरत नहीं, मगर अ़मल का कुबूल होना उसके अस्ली फ़ायदे के लेहाज़ से होता है। आख़िरत के सवाब काम के कुबूल होने के दर्जे से ज़्यादा जुड़ा है। रोज़े का असली मक़सद जो खुदा की ख़ुशी की वजह है वह उस वक़्त मिलेगा जब रोज़े में इन्सान फ़र्ज़ का एहसास बाक़ी रखे और अपने अ़मल की देखरेख जारी रखे।

इन लोगों की तवज्जो दिलाने के लिये जो रोज़ा में गुस्सा दिखाने को अपना खास रंग ढ़ंग समझते हैं उनके लिए कुछ और हदीसें दी जा रही हैं जिनसे रोज़े में गुस्से को रोकने की फ़ज़ीलत ज़ाहिर होगी।

फ़ुज़ैल बिन बिसयार की रवायत– इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] से है कि रोज़े की हालत में आदमी किसी से झगड़ा न करें और न गुस्से से काम ले, न जल्दी हल्फ़ उठाये (क़सम खाने के लिए कुरआन उठाना) और न क़समें खाये।'' अगर कोई इसके मुक़ाबले में अनजानपन से काम भी ले तो ये सह ले।

दूसरी हदीस सअदत बिन सदक़ह की है कि इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] ने अपने महान बाप दादा के ज़रिये से हज़रत रसूल[स०] से रवायत की है कि हज़रत[स०] ने फ़रमाया'' जिस रोज़ेदार ख़ुदा के बन्दे को गालियाँ दी जायें और वह ये कहे कि ख़ुदा तेरा भला करे, मैं तुझे इस तरह गालियाँ नहीं दूंगा जिस तरह तुने मुझे गालियॉ दी हैं, तो खुदा फ़रमाता है कि मेरे बन्दे ने रोज़े की पनाह अपनायी मेरे दूसरे बन्दे की शरारत के बदले में, अब मैं इसको जहन्नम की आग से पनाह दूँगा।'' इसी तरह की रवायत इस्माइल बिन मुसलिम कूफ़ी की भी इमाम ज़ाफर सादिक़[अ०] से है, इसमें ये है कि जब उसे गालियाँ दी जाती हैं तो वह कहता है कि मैं रोज़े से हूँ। ख़ुदा तेरा भला करे तो ख़ुदा फ़रमाता है कि उसने रोज़े की पनाह ली, उसको पनाह दे दी जाये और इसे जन्नत में दाख़िल किया जाये। काश! जान और जी बढ़ाने वाली इस खुशख़बरी को सुनकर रोज़ेदार अपने गुस्से की आग को बुझा दें और जन्नत के बाग़ों के हक़दार बनें।

शेर पढ़ना/काव्यपाठ

कई रवायतों से साबित होता है कि रोज़े की हालत में शेर पढ़ना मकरूह (अच्छा नहीं/करे तो सवाब नहीं, न करे तो सवाब) है। इस मौक़े पर ये ख़्याल किया जा सकता था कि शेर का मतलब उस शेर के विषय यानी ख़यालीे (काल्पनिक) होने से हैं चाहे नज़्म (Poetry) में

हो या नस्र (Prose) में लेकिन अगर कविता में कुछ हक़ीक़ी मतलब और सच्ची बातें दर्ज हो तो वह इस हुक्म से अलग समझा जाए। मगर हदीस ने इस ख़्याल की गुन्जाइष बाक़ी नहीं रखी है। वहां साफ़ बयान कर दिया गया है कि अगर कविता में सच्चे मतलब सही बातें भी हो, यहाँ तक की अहलेबैत[अ०] की मद्ह (तारीफ़) में हो तब भी इस का पढ़ना रोज़े की हालत में मकरूह है, और ये भी बयान किया गया है कि रात और दिन इस हुक्म में बराबर है। इसका नतीजा ये है कि रमज़ान महीने में रात को भी शेर पढ़ना मकरूह है। बल्कि रात को तो आम तौर पर शेर पढ़ना मकरूह है, चाहे रमज़ान महीना न भी हो। देखिए, नीचे दी गयी हदीसें:–

'हम्माद बिन उस्मान' की रवायत है कि इमाम जाफ़र सादिक़[अ०] ने फ़रमाया:– रोज़ेदार के लिये शेर पढ़ना मकरूह है और उस शख़्स के लिए जो एहराम की हालत में हो और हरम में हो और जुमे के दिन शेर पढ़ना और रात में शेर पढ़ना। रावी (रवायत बयान करने वाले) ने कहा चाहे वह हक़ सत्य शेर ही क्यों न हो? हज़रत[अ०] ने इरशाद फ़रमाया'' अगर हक़ शेर ही हो।''

दूसरी रवायत हम्माद बिन उस्मान वग़ैरह की है कि इमाम जाफ़र सादिक़ ने फ़रमाया कि शेर रात को नहीं पढ़ा जाना चाहिए और रमज़ान महीने में रात दिन किसी वक़्त न पढ़ा जाये। हज़रत[अ०] के बेटे इस्माईल ने अर्ज़ किया, बाबा चाहे वह शेर हमारे बारे में हो ?

हज़रत ने फ़रमाया ''हाँ, चाहे वह हमारे बारे में हो।''

इन रवायतों के लेहाज़ से नौहा, मरसिया, सलाम, क़सीदा और किसी तरह के भी शेर की छूट साबित नहीं होती । ये दूसरी बात है कि अहलेबैत[अ०] की मदह (तारीफ़) का एक मुस्तक़िल सवाब इस ज़रिये से हासिल हो जाये और वह उस सवाब की कमी की पुरौती कर सके जो रोज़े में शेर पढ़ने को मकरूह होने से पैदा होती है।

एक दिलचस्प चर्चा

सबके देखने में आता है कि रमज़ान के बाद ईद का चांद कभी 29 को होता है और कभी 30 का जिस तरह और दूसरे महीने इस लेहाज़ से अलग होते है। और इस लेहाज़ से किसी चाँद के महीने के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह हमेशा 29 ही का होता है या हमेशा 30 दिन का। उसी तरह रमज़ान महीने के बारे में भी कुछ तय (निश्चित) नहीं हो सकता। मगर कई हदीसें इस बारे में आ गयी हैं कि रमज़ान का महीना कभी 30 दिन से कम नहीं होता। कुछ रवायतों में बहुत सख़्त लफ्ज़ों में इस चीज़ का इनकार किया गया है कि पैग़म्बर[स०] ने कभी 29 दिन के भी रोज़े रखे बल्कि कहा गया है कि रसूल[स०] ने हमेशा 30 ही दिन के रोज़े रखे। कुछ रवायतों में है कि जब से आसमान पैदा किया गया उस वक़्त से रमज़ान का महीना हमेशा पूरा ही हुआ। यानि कभी 30 दिन से कम न हुआ है, न होगा। इन हदीसों का नतीजा ये है कि रमज़ान के महीने के ख़त्म होने के लिये चांद का देखना कोई चीज़ नहीं है बल्कि अस्ल चीज़ 30 दिन का पूरा करना है। इसके ख़ेलाफ़ अनगिनत हदीसों में ये है कि रमज़ान का महीना भी दूसरे महीनों की तरह है। जैसे वह कभी 29 दिन का होता है कभी 30 दिन का। इसी तरह रमज़ान का महीना भी 29 और 30 दिनों का दोनों तरह का होता है और इसलिये चाँद का लेहाज़ किया जाएगा, चाहे चाँद 29 ही को निकल आया तो रोज़ा छोड़ देना ज़रूरी होगा। इन हदीसों में ये भी है कि रसूलअल्लाह सल्ललललाहो अलैहे वसल्लम ने दोनों तरह से रोज़े रखे हैं 29 के भी और 30 के भी।

इन हदीसों के फ़र्क़ की वजह से पहले ज़माने के उलेमा में बड़ा ज़बरदस्त मतभेद (राय में अलगाव) पैदा हो गया। एक वर्ग पहली हदीस पर चला और उन्होने हर महीने के लिये दिनों की

(शेष पेज नं0 12 पर......)

(पेज नं0 6 का शेष)

कुछ गिनती इस तरह तय (निश्चित) कर ली कि रमज़ान महीना 30 दिन, शव्वाल 29 दिन, ज़ीक़ाद 30 दिन, जिल्हिज़्जा 29 दिन।

इसी तरह एक महीना 30 का और एक महीना 29 का । ये लोग '' अस्हाबुल अ़दद'' (अंक वोल) कहे जाते हैं। दूसरे ओलेमा और देखने के मुताबिक़ दसूरी क़िस्म की हदीसों पर चले। ये लोग ''अस्हाबुर्रवय्या'' (देखने वाले धान देखने के पक्षधर) कहे गए। तीसरी चौथी सदी हिजरी तक ये फ़र्क़ बहुत ज़ोरों पर था और आपस में एक दूसरे की ख़िलाफ़ रेसाले भी लिखे गये लेहाज़ा बहुत से रेसाले इस टॉपिक पर में हमारी जानकारी में मौजूद हैं। मग़र बाद में ये मतभेद मिट गया और तमाम उलेमा शीया इस बात के क़ायल (मानने वाले) नज़र आने लगे कि गिनती का कोई भरोसा नहीं। अस्ल भरोसा चॉद का है। यही अब भी सभी फ़िरकों के नज़रिए से सही हैसियत रखता है। इतना तो यक़ीन कर लिया गया है कि पहली क़िस्म की हदीसों पर चला नहीं जा सकता मगर आज तक उन हदीसों का दिल में बैठ पाने वाला मतलब समझ में नहीं आया।

